विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
प्राचीन भारतीय श्रृंगार कला
मनीषा सिंह

पृष्ठ क्र. 3-4
कालिदास और संस्कृति का दिग्दर्शन
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 5-6
भारतीय दर्शन के उद्‌गम और विकास
जगदीशचंद्र मिश्र

पृष्ठ क्र. 7
अतीत की स्त्रियाँ और विज्ञान
ओमप्रकाश प्रसाद

पृष्ठ क्र. 8
गाथा परशुराम और उनके तेज की
मिथिलेश यादव

प्राचीन भारतीय श्रृंगार कला

मनीषा सिंह

भारत आरम्भ से ही धर्म प्रधान देश रहा है। अतः अंग राग और सुगन्ध की रचना और उपयोग को तामसिक वासनाओं का उत्तेजक न मानकर, समाज–कल्याण और धर्म प्रेरणा के साधन रूप में सौंदर्य प्रसाधन माना गया है। वैदिक साहित्य, महाभारत, बृहत्संहिता, निघंटु, सुश्रुत, अग्नि पुराण, मार्कण्डेय पुराण, शुक्रनीति कौटिल्यकृत ''अर्थशास्त्र'', ''अमर कोश'' आदि में विविध अंगरागों और सुगन्धों का रचनात्मक और प्रयोगात्मक वर्णन पाया जाता है, जिसमें दर्पण निर्माण–कला, उद्वर्तन (उबटन), विलेप, धूलन, चूर्ण, पराग, तेल, दीपवर्ति, गंधोदक, स्नानीय चूर्णवास, मुखवास आदि का विधान सम्मिलित है। शारंगधन ने त्वचा की रक्षा और सुन्दरता के लिये पारद (पारा) के धातव रसों जैसे कई प्रकार के मिश्रणों का वर्णन किया है। गुप्त काल में अंगरागों को तैयार करने के लिये राज–प्रासादों में प्रसाधक और प्रसाधिकाएँ नियुक्त होती थी। द्रौपदी को एक वर्ष का अज्ञातवास काटना पड़ा था तो वह रानी सुदेष्णा की दासी बनकर प्रतिदिन उसके लिये विशेष अंगराग तैयार करती थी और उसका श्रृंगार कार्य भी करती थी। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति का काल था गुप्तकाल इस काल के साहित्य एवं अभिलेख श्रृंगार–प्रसाधनों पर काफी प्रकाश डालते हैं। वात्स्यायन ने अनुलेपन, पुरुषों की मालाएँ, सुगन्धित पुटिका, नींबू का छिलका और पान को श्रृंगार प्रसाधन बताया है जिनका प्रयोग प्रायः शहर के धनाढ्य एवं उच्चाधिकारी करते थे। उच्चवर्गीय लोग जिस दातून से दाँत साफ करते वह औषधियों और सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित रहती थी। पेड़ से तोड़ी गईं दातून को सुवासित करने की प्रक्रिया 8–10 दिन पहले से शुरू हो जाती हर्र के चूर्ण मिले गोमूत्र में दातून एक सप्ताह तक रखी जाती थी। उसके बाद इलायची, दालचीनी, तेजपत्ता, अंजन, मधु और मरिच से सुवासित किए जल में उस दातून को डुबो दिया जाता था। इस दंतकाष्ठ से दाँत स्वस्थ्य रहते थे। इस दातून को तैयार करने के लिए नियमित रूप से भृत्य (दास) रहा करते थे। वराहमिहिर बताते हैं कि दातून यदि विधिपूर्वक बनी हो तो मुख का स्वाद निखार देती है, कान्ति बढ़ा देती है और सुगन्धि ला देती है तथा वाणी को ऐसा बना देती है कि सुनने वालों के कानों को सुख देती है। स्नान का जीवन में विशेष महत्व था। स्नान में साबुन के समान एक प्रकार की वस्तु का प्रयोग होता था जिससे फेन निकलता था। इसके प्रयोग से शरीर में स्वच्छता आती थी। प्रत्येक तीसरे दिन इससे स्नान करने की प्रथा थी। स्नान के पश्चात् राजा पूजन से निवृत्त होकर विलेपन भूमि की ओर जाता जहाँ वह अपने शरीर पर कस्तूरी, कर्पूर और केसर मिले हुए चन्दन का आलेप लगाता था। इसे विलेपन तथा अंगराग कहते थे। अमरकोश में कर्पूर, कस्तूरी, अगरू और कक्कोल की सुगन्धि को यक्षकर्दम कहा गया है। नखों को काटने तथा सजाने की प्रथा थी। नख त्रिकोण चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य कई प्रकार के होते थे। गौड़ (बंगाल) के लोग बड़े–बड़े नखों को पसन्द करते थे। बड़े नख स्त्रियों में विशेष रूप से प्रिय थे। दक्षिण के लोग छोटे और उत्तरापथ के लोग मझोले नखों को पसन्द करते थे। बायें हाथ के नखों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था। उन्हें एक नाप का चमकीला और विवाह के समय वधू का विशेष श्रृंगार होता था। कुमारसम्भव में वधू रूप में पार्वती का जो विस्तृत वर्णन है उससे उच्चकुलीय स्त्री के श्रृंगार का अच्छा परिचय मिलता है। स्नान के पश्चात् वधू की त्वचा का चिकनापन लोध्र के आलेप से दूर किया जाता था। कालेयक नामक विलेपन शरीर पर लगाया जाता जो शीघ्र ही सूख जाता था। केशों को सुवासित धुएँ से सुखाया और सुवासित किया जाता था। वधू को मधूक पुष्प की पीली माला पहनाई जाती थी। अलंकृत नमूने शुक्लागरु तथा गोरोचन से बनाए जाते थे। गोरोचन के प्रयोग से रंग

साफ दिखाई देता था। नेत्रों में अंजन लगाया जाता था। अन्त में वधू की माता अपनी दो अंगुलियों से पुत्री के माथे पर विवाह का तिलक और पीले हरिताल तथा मनःसिला से निर्मित मांगल्य विलेपन लगाती थी। गोरोचन श्वेतवर्ण का होता था। रघुवंशम् में इन्दुमती की सखी सुनन्दा ने उससे कहा था– तुम गोरोचन–सी गौरवर्ग हो, यदि श्यामवर्ण वाले पांड्य देश के राजा से विवाह कर लोगी तो उतनी ही सुन्दर लगोगी जैसे बादल के साथ बिजली। गोरोचन का प्रयोग स्त्री और पुरुष मुख पर पत्र–रचना के लिए करते थे। राजा अदिति ने राज्याभिषेक अवसर पर पत्र–रचना के लिए गोरोचन का प्रयोग किया था। पार्वती के विवाह के अवसर पर पत्र–रचना गोरोचन से ही करने का उल्लेख मिलता है। गोरोचन से उत्तरीय पर हंस आदि की आकृति बनाने का भी उल्लेख है जिन्हें शुभ माना जाता था। मुख तथा शरीर पर पत्र–रचना के पूर्व विविध सामग्री का अंगराग लगाया जाता था जिनमें चन्दन तथा कस्तूरी का स्थान प्रमुख था। शरीर पर चन्दन का आलेप कर काले अगरु से नमूना बनाया जाता था जिसमें मकर की आकृति विशेष प्रचलित थी। कभी–कभी चक्राकार नमूने सफेद अगरु से भी बनते थे। शरीर पर मालिश तथा केशों में लगाने के लिए तेल का व्यवहार किया जाता था। तेल मलवाने का उद्देश्य स्वास्थ्य वृद्धि था। ऋतुसंहार में प्रसंग है कि स्त्रियाँ हेमन्त ऋतु में तेल मलवाती थीं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में स्नान के पूर्व तेल मलवाने का वर्णन है। इंगुदी नामक तेल का प्रयोग तपस्वी करते थे। साधारण प्रकार का सुवासित तेल तिल के बीज से बनता था जिसे प्रयोग के पूर्व पुष्पों से सुवासित किया जाता था। जिस पुष्प से उसे तेल में उसी की सुगन्धि आ जाती थी। तेल में मजीष्ठ, व्याघ्रनख, मुक्ता तथा दालचीनी का चूर्ण मिलाकर धूप में रख देने से उसमें पुष्प की मीठी सुवास आ जाती थी। व्याम तथा कुट मिलाने से बकुल की गन्ध आ जाती थी। इसके अतिरक्त कुष्ठ से कमल की, चन्दन से चम्पक और जावित्री तथा अतिमुक्तक की गन्ध आने लगती थी। तेल के दुगुने भाग में तगर जाति पुष्प की सुवास आ जाती थी। वकुल पुष्प का चूर्ण मिलाने से भी ऐसी ही सुवास उत्पन्न होती थी। सम्पूर्ण शरीर पर सुगन्धित–द्रव्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। यहाँ तक कि स्नान के बाद सरोवरों के जल में भी यह सुगन्धि बस जाती थी यक्षकदम नामक सुगन्धि का भी प्रचलन था। सर्वतोभद्र नामक इत्र नख, तगर, तुरुष्क (बराबर–बराबर मात्रा में), कस्तूरी और कर्पूर आदि मिलाकर बनाया जाता था। गात्रानुलेपनी शरीर पर लगाया जानेवाला सुगन्धित विलेपन था। सुगन्धित लकड़ियों, धूप, राल इत्यादि के धुएँ का प्रयोग केश, वस्त्र तथा कक्ष को सुवासित करने के लिए किया जाता था। अवन्ती की स्त्रियों केश को सुवासित करती थीं। कालागरु तथा धूप–इन दोनों का प्रयोग केश, वस्त्र तथा कक्ष सुवासित करने के लिए होता था। कस्तूरी का प्रयोग वस्तुओं को सुगन्धित करने के लिए किया जाता था। अवलेपों को सुगन्धित करने के लिए, उनको इसकी सुगन्ध में बसा दिया जाता था।

बृहत्संहिता में धूप बनाने की विधियाँ विस्तार से बताई गई हैं। चौथाई भाग सतपुष्प और लोहवान, आधा भाग नख तथा सुगन्धित गोंद, एक भाग चन्दन तथा प्रियंगु मिलाने से अच्छा धूप तैयार होता था। दूसरी विधि में गुग्गुल, लाह, मुस्ता और शक्कर बराबर–बराबर मिलाया जाता था। तीसरी में जटा माँसी, सुगन्धित गोंद, नख, तथा चन्दन बराबर–बराबर मिलाया जाता था। कपच्छद नामक धूप चौथाई भाग मुस्ता, दो भाग श्रीसर्ज का राल तथा नख, गोंद और कर्पूर के साथ शहद मिलाने से बनता था। वस्त्र सुवासित करने के लिए विशेष रूप से धूप का प्रयोग किया जाता था। अच्छे प्रकार के धूप बनाने के लिए दालचीनी, खस घास और पत्र बराबर–बराबर लेकर आधे भाग को इलायची चूर्ण के साथ कस्तूरी एवं कर्पूर में मिलाया जाता था। आधुनिक काल में जिस प्रकार मुख पर चूर्ण का प्रयोग किया जाता उसी प्रकार गुप्तयुग में मुख, केश और शरीरांगों पर तरह–तरह के चूर्ण लगाए जाते थे। इनमें लोभ प्रसवरज, अम्बुजरेणु, केसर–चूर्ण और केतकरज प्रमुख थे। स्नान के पूर्व शरीर पर लोध्रचूर्ण का प्रयोग किया जाता था। स्नान के बाद इस मुख पर भी लगाया जाता था। मुख पर एक विशेष प्रकार का चूर्ण प्रयोग करने की चर्चा रघुवंशम् में है। केशों को सुगन्धित बनाने के लिए कस्तूरी का चूर्ण लगाया जाता था। श्रृंगार में पुष्पों का महत्वपूर्ण स्थान था। कवियों ने इसकी महत्ता का बहुत गुणगान किया है। मेघदूतम् में एक स्त्री द्वारा केशों में मन्दार पुष्प लगाने और कानों में पत्रलता तथा स्वर्णिम कमल पुष्प पहनने का उल्लेख है।

कालिदास और संस्कृति का दिग्दर्शन

ईशान अवस्थी

इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है। कालिदास की कृतियों में भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन आँका जाता है कि उसका व्यक्तित्व या निजल उसकी कृति इस प्रकार एकाकार हो जाये कि लोग उसके कृतित्व के आधार पर ही उसको प्राप्त कर वाल्मीकि और व्यास ऐसे ही महान् कृतिकार थे। उत्कृष्ट कृतित्व की विशेषता इसमें है कि उसका प्रभाव सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होता है और उससे विश्व के सभी कृतिकारों को समान रूप से प्रेरणा तथा चेतना प्राप्त होती है। कालिदास इसी प्रकार के कृतिकार थे। देश–विदेश में समान रूप से उनका प्रभाव और आदर–सम्मान है। उनकी कविता और विशेष रूप से नादचकला के सम्बन्ध में जर्मन महाकवि गेटे के भावों को अभिव्यक्त करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है–स्वर्ग और मर्त्य का जो मिलन है, उसे कालिदास ने सहज की सम्पादित कर दिया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर दिया है, मर्त्य की सीमाओं को इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का अन्तर किसी को मालूम ही नहीं होने पाता।

कालिदास के सम्बन्ध में कुछ दिन पूर्व जो अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई थी, निरन्तर नयी खोजों के परिणामस्वरूप उसका बहुत कुछ समाधान हो गया है। उन्हें अतीत भारत के गौरव का प्रतीक मानकर आज राष्ट्रीय सम्मान दिया जाने लगा है। उनकी स्मृति में प्रति वर्ष देश के विभिन्न अंचलों के सभी भाषा–भाषियों द्वारा जयन्तियाँ मनायी जाती हैं, उत्सव और मेले आयोजित होते हैं। कालिदास के स्थितिकाल–सम्बन्धी जो भ्रान्तियाँ थीं उनका भी बहुत कुछ निराकरण हो चुका है और अधिकतर विद्वान् इतिहासकार अब इस मन्तव्य को स्वीकार करने लगे हैं कि मालव गणतन्त्र के मुखिया, शकारि का वीरुद्ध धारण करने वाले एवं विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य के आश्रय में उन्होंने खासा समय व्यतीत किया था। इन 'शकारि' विक्रमादित्य का शासनकाल ई. पूर्व प्रथम शती था। अतः कालिदास भी निर्विवाद रूप से इसी समय हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास का सम्बन्ध दक्षिण के शुग–सातवाहनों से भी रहा। जिस समय मालवा पर विक्रमादित्य का शासन था, दक्षिण के स्वामी शुग थे। उनका 'मालविकाग्निमित्र' नाटक इस तथ्य का पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण है। कालिदास द्वारा विचरित जिन कृतियों को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं उनकी संख्या सात है। उनमें 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसहार' खण्डकाव्य, 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' महाकाव्य और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक कृतियाँ हैं। कालिदास की इन कृतियों में साहित्य की जिन नवीन रूप–विधाओं का सृजन हुआ उनकी सुरभि से भारत का साहित्याकाश सुरभित है। उनके द्वारा अतीतकालीन भारत के युग–युगों की संस्कृति नैसर्गिक रूप में अवतरित हुई। जिस प्रकार शेक्सपियर ने अपने नाटकों में तत्कालीन भौतिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों को समायोजित किया है, उसी प्रकार कालिदास ने अपनी कृतियों में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक चेतनाओं को अत्यन्त विशद रूप में बड़ी सजीवता के साथ सन्दर्शित किया है। कालिदास इस रूप में भारत के सर्वोच्च महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी कृतियों में इस राष्ट्र की चिरन्तन सांस्कृतिक परम्पराओं को अत्यन्त सजीवता एवं मार्मिकता से गुम्फित गया है। 'रघुवंश' के आरंभ (1.5.9) में ही उन्होंने लिखा है कि रघुवंशीयों में जो असामान्य गुण विद्यमान थे उन्हीं की प्रेरणा से मुझे इस महाकाव्य के प्रणयन की इच्छा हुई। भारतीय संस्कृति के उत्स रघुवंशीयों के चरित्रों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है– वे रघुवशीय शास्त्रानुमोदित नियमों के अनुसार यज्ञ करते थे। याचकों को उनका मनोवांछित फल देते थे। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। समयोचित कार्य करते थे। दान के ही उद्देश्य से धन का संचय करते थे। सत्य की रक्षा के लिए थे। वे लूटमार, उत्पीड़न के लिए नहीं, अपितु अपने यश–विस्तार के लिए ही दूसरे देश पर विजय प्राप्त करते थे। वे भोग–विलास के लिए नहीं, अपितु सन्तति–जनन के लिए विवाह करते थे। वे बाल्यावस्था में अध्ययन करते थे, युवावस्था में सांसारिक भोगों का आनन्द लेते थे, वृद्धावस्था में मुनिजनों के समान अरण्यों में तप करते थे और अन्त में योग द्वारा परमेश्वर का ध्यान–चिन्तन करते, बोलते हुए शरीर त्याग करते थे। रघुवंश के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रघुकुल के सभी राजाओं ने इस परम्परा का पूरी तरह से पालन किया। यही भारतीय संस्कृति का मूल है और इसी का दिग्दर्शन कालिदास की कृतियों में हुआ है। किसी कवि या रचनाकार की

और विशेष रूप से ऐसे निष्णात साहित्य–सृष्टा की कृतियों के अध्ययन से यह अवगत करना या ग्रहण करना अथवा निश्चित करना नितान्त कठिन कार्य है कि उसने जिन परिस्थितियों, जिस वातावरण या देश–काल की जिन दशाओं का वर्णन किया है, उसमें कितना अंश उसका स्वानुभूत है और कितना कल्पित या आनुमानित। इस दृष्टि से किसी रचनाकार की कृतियों से वास्तविकता को छाँटकर निकालना प्रायः दुष्कर होता है। यद्यपि विभिन्न साधनों एवं स्रोतों द्वारा उज्जीवित पूर्ववर्ती परम्पराओं को अपनी कल्पना–दृष्टि द्वारा स्वानुरूप बनाने में सभी कृतिकारों का प्रयत्न रहा है, तथापि प्रत्येक श्रेष्ठतम कृतित्व तभी चिरस्थायी एवं लोक सम्पूजित होता है, जबकि उसमें उसके रचनाकार की अनुभूतियाँ भी अनुस्यूत हो। इस दृष्टि से यदि कालिदास की कृतियों तथा कालिदासयुगीन भारत की सम–सामयिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाये तो बहुत से तथ्यों तथा वास्तविकता को खोज निकालना असम्भव नहीं है। कालिदास की कृतियों से तत्कालीन जन–जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही उनके व्यक्तिगत जीवन के सूत्रों का भी पता लगाया जा सकता है।

कालिदासयुगीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिचायक अनेक तथ्य उनकी रचनाओं में निहित हैं। ई.पू.दूसरी शती के लगभग मौर्यों की महान् परम्परा प्रायः क्षीण पड़ गयी थी। उसका उत्तराधिकार दक्षिण के आंध्र सातवाहनों ने उजागर किया था। किन्तु प्रतापी मौर्य की क्षीणता के कारण मगध, पाटलिपुत्र और मथुरा आदि तत्कालीन ऐतिहासिक राजधानियों पर ग्रीकों का प्रभाव स्थापित होता जा रहा था। इस प्रकार के ग्रीक शासकों में देमित्रियस् (दिमित) और मेनांडर (मिलिन्द) के नाम प्रमुख हैं। धीरे–धीरे उनका प्रभाव पंजाब–सिन्ध और मध्य–पश्चिम तथा उत्तर भारत में भी व्याप्त हुआ। तत्कालीन विद्या केन्द्र तक्षशिला, मगध तथा नालन्दा पर भी उनका अधिकार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप आयुर्वेद तथा ज्योतिष आदि के विद्वानों पर ग्रीकों की परम्पराओं का प्रभाव प्रकाश में आने लगा। ज्ञान–विज्ञान के अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन तीनों क्षेत्रों में भी ग्रीकों की शिल्प–संरचना के नये रूप प्रकाश में आये। कालिदासकालीन भारत के सामाजिक जीवन का चित्रण करने वाली सामग्री उनके ग्रंथों में भरपूर रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज–व्यवस्था का नियमन वर्णाश्रम धर्मों द्वारा होता आया है। कालिदास के ग्रंथों में वर्ण और आश्रम दोनों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि रघुवंश में कालिदास ने सभी रघुवंशी राजाओं में आश्रम धर्म की अनिवार्यता को स्वीकार किया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदासयुगीन समाज में उसमें कुछ शिथिलता आ गयी थी। ब्रह्मचर्या श्रम में अध्ययन तथा नियम की जो वैदिक परम्परा थी, उसमें विद्या अध्ययन की श्रेष्ठता तो पूर्ववत् बनी हुई थी, किन्तु नियम एवं व्रत की शिथिलता आ गयी थी। इसी प्रकार यद्यपि राजा दिलीप जैसे गृहस्थ के कुछ आदर्श को चरितार्थ करने वाले गृहस्थ लोग कम थे, फिर भी गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आश्रम तब भी माना जाता था। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की परम्परा भी उतनी नियमानुबद्ध नहीं थी। वर्णधर्म की परम्परा में स्थायित्व था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्णों की व्यवस्था को सारा समाज स्वीकार करता था। प्रत्येक वर्ण में धर्मशास्त्रानुसार संस्कारों का सम्पादन होता था रघुवंश के सभी राजा जातकर्म, नामकरण, उपनयन आदि सोलह संस्कारों में दीक्षित थे। असवर्ण विवाहों को बुरा नहीं माना जाता था। प्राजापत्य और गान्धर्व विवाहों की अधिकता थी। गान्धर्व विवाह का उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल है। कालिदास की सभी कृतियों में, विशेष रूप से अभिज्ञान शाकुन्तल में गृहस्थ जीवन का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन हुआ है। उसमें कन्या की विदाई के जिस मार्मिक पक्ष का वर्णन किया गया है उसके कारण यह नाटक विश्व की सर्वोच्च कृतियों में सहज ही स्थान पा गया है। भारतीय गृहस्थ के लिए कन्या का जन्म बड़ा ही क्लेशकारी रहा है। पिता के वात्सल्य, माता की ममता, भाई–बहनों का प्रेम और सखी–सहेलियों का साथ छोड़कर सदा के लिए जब उसे पराये घर में जाना होता है, तब उसकी वह स्थिति अत्यन्त ही करुणाजनक हुआ करती है। इस प्रसंग का चित्रण कालिदास ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

गृहस्थाश्रम में रहने वाले लोगों के लिए कन्या का वियोग असह्य तो होता ही है। किन्तु एक संसार त्यागी एवं संयमधनी तपस्वी का हृदय भी उससे द्रवित हुए बिना नहीं रहता। आज शकुन्तला पतिगृह को जा रही है। इस विचार से ही मेरा हृदय दुःख से भर गया है। कण्ठ गद्गद् हो रहा है। चिन्ता से दृष्टि जड़ हो गयी है। वनवासी होकर भी यदि मैं कन्या की विदाई से इतना व्याकुल हो सकता हूँ, तो उन गृहस्थों की क्या दशा होती होगी? कालिदास ने वैदिक परम्परा के अनुसार स्त्रियों के कुलधर्म का बड़ी सतर्कता से अत्यन्त संयत रूप में वर्णन किया है। उन्होंने सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। वे सुशिक्षित हुआ करती थीं और उन्हें धर्मानुराग के लिए इतिहास–पुराण तथा कलानुराग के लिए ललित कलाओं (संगीत, नृत्य, गायन, चित्रकला) की शिक्षा दी जाती थी। उनके बिना गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं होता था।

समाज में स्त्रियों का सम्मानजनक स्थान था। वे घर की सर्वस्व हुआ करती थीं। सार्वजनिक क्रीड़ा, उत्सवों में भाग लेने के लिए उन्हें पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। शील और मर्यादा आदि सद्गुणों का पालन करना उनके स्वभाव की विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की भाँति तब भी परिवारों के प्रति सजगता बरती जाती थी। संयुक्त परिवारों का प्रचलन अधिक था। परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह का पारिवारिक पर होता था। परिवार–संस्था का इस दृष्टि से भी महत्व था कि यही सामाजिक रचना का आधार थी। पारिवारिक जीवन में शिष्टाचार का विशेष माना जाता था।

भारतीय दर्शन के उद्‌गम और विकास

जगदीशचंद्र मिश्र

भारतीय मेधा का सर्वोत्कृष्ट अवदान भारतीय दर्शन है। दर्शन 'धर्म' का विश्लेषण है तो धर्म 'दर्शन' का संश्लिष्ट स्वरूप है। इसके उद्‌गम और ऐतिहासिक क्रम के सन्दर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बड़ा ही कठिन है क्योंकि इस देश के अन्य ऋषिकल्प साहित्यिक विधाओं की तरह यहाँ के दार्शनिकों ने भी अपने या अपने परिवेश के सन्दर्भ में कुछ लिखने की अपेक्षा अपने विधि–निषेधात्मक सिद्धान्त के प्रतिपादन में ही रुचि ली। है, आत्मपरिचय या काल–निर्धारण में नहीं। अतः उनके खण्डन–मण्डनात्मक विवेच्य वस्तु को आधार बनाकर ही उनका विभाजन हम कर सकते हैं। सामान्यतः भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास क्रम को विवेच्य विषयों के आधार पर निम्नलिखित कालों में हम विभाजित कर सकते हैं।

वैदिक काल–वेद भारतीय जीवन का प्रातिभ संस्कार हैं। दार्शनिक ज्ञान से सम्पुष्ट धर्म इसके जीवन हैं। यह पारमार्थिक पाथेय के साथ जागतिक जीवन की अनन्त समस्याओं का ज्वलन्त समाधान है। भारतीय जीवन का दर्शन यदि तात्त्विक सिद्धान्त तो धर्म उसका व्यावहारिक प्रयोग है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में विराट् पुरुष की कल्पना दार्शनिक तत्त्वचिन्तन से भिन्न कैसे है ? इसीलिए यहाँ के ऋषियों–मनीषियों ने दार्शनिक 'सत्य' का प्रयोग मानव–जीवन के तलस्पर्शी यथार्थ के रूप में किया है। इस सांकेतिक तत्व का क्रमिक विकास ब्राह्मण तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों में पूर्ण विकसित रूप में हमें उपलब्ध होता है। आत्मस्फूर्ति के आधार पर महर्षियों ने इस दार्शनिक सत्य का साक्षात्कार अपनी अनुभूति के धरातल पर किया था।

उत्तरवैदिक काल– इस काल को हम अवैदिक काल या वेदविरोधी काल कह सकते हैं। यहाँ अवैदिक शब्द की नकारात्मकता ने बहुत सारी भ्रान्तियों को जन्म दिया है। अवैदिक शब्द तो नकारात्मक है, पर इसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। यह अनुभूति शुद्ध चिन्तनात्मक है, क्योंकि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में पाँचवीं–छठी शताब्दी के पूर्व.काल वस्तुतः वैचारिक क्रान्ति का काल था। यह समय अनेक महापुरुषों और मनीषियों के समाज के कुछ वर्गों की आर्थिक स्थिति भी दयनीय थी। कष्ट निवारण के लिए उनके चिन्तन और उपदेश का काल था। कुछ सामाजिक परिवर्तन भी परिलक्षित हो रहे थे। धार्मिक जिज्ञासा भी थी। यहीं से धर्म और दर्शन की नई खोज प्रारम्भ हुई। जैन और बौद्ध दर्शन के साथ ही अभिनव विचारों की पृष्ठभूमि में वैदिक धर्म दर्शन के विपरीत अवैदिक धर्म दर्शन की परम्परा कायम हुई। यह श्रमण–परम्परा के नाम से अभिहित है। इनका स्वर पुरोहितों, यज्ञों, कर्मकाण्डों, ईश्वर, आत्मा और वेदों के विरुद्ध था। ये निरीश्वरवादी एवं क्रियावादी विचार के पोषक थे। इनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार संसारवाद अगवा

कर्म या पुनर्जन्म के सिद्धान्त थे। इस आजीवक दर्शन के साथ ही जैन और बौद्धों ने भी वैदिक दर्शन के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की। जनसामान्य में इनकी लोकप्रियता बढ़ गई। प्रचार और प्रसार की दृष्टि से भी वैदिक दर्शन को इन्होंने धक्का देने की कोशिश की। यह युग दार्शनिक क्षेत्र में परस्पर टकराव का ही युग रहा। कुछ नई क्रियात्मकता के दर्शन नहीं होते। इन वेदविरोधियों में चार्वाक और आजीवक की आवाज ऊँची तो अवश्य थी, पर अधिक प्रभविष्णु न हो सकी, फिर भी संगठनात्मक लोकप्रियता प्राप्त करने में ये अवश्य सफल रहे।

महाकाव्य काल–महाकाव्य युग में औपनिषदिक विचारधारा कई खण्डों में विभक्त होकर वैचारिक या साम्प्रदायिक उपधारा का स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। इस समय तक जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के रूप में परिणत होकर अपने–अपने मत के प्रचार–प्रसार कार्य में तत्पर हो रहे थे। ये दार्शनिक सम्प्रदाय तत्कालीन समाज की बुराइयों को दूर करने वाले सुधारक सम्प्रदाय के रूप में ख्यात थे। औपनिषदिक विचार के प्रतिकूल चार्वाक के विचार की सर्वत्र ख्याति थी। महाभारत के शान्तिपर्व में पाँच दर्शन– सम्प्रदायों का उल्लेख है। कृसांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद और पाशुपत। इन वैदिक दर्शनों के अतिरिक्त

महाभारत में अवैदिक अर्थात् नास्तिक दर्शनों की भी चर्चा मिलती है। चार्वाक का उल्लेख महाभारत में आया है। चार्वाक के पूर्ववर्ती आचार्य वृहस्पति का उल्लेख चार्वाक ने किया है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव की चर्चा आई है। जैन लोग इन्हें अपना प्रथम तीर्थकर मानते हैं। इन्होंने तत्वज्ञान का अन्वेषण किया है। इनका प्रमुख सिद्धान्त 'स्याद्वाद' है। यह सिद्धान्त अनेकान्तवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनका समय ईसापूर्व लगभग 500 ई. माना जाता है। सूत्रकाल– भारतीय दर्शन का महत्वपूर्ण काल माना जाता है। ईसा–पूर्व 400 ई. अर्थात् मौर्यकाल में दार्शनिक सूत्रसाहित्य अपने विकास के शिखर तक पहुँच चुका था। प्रायः इसी अवधि में महर्षि गौतम ने न्याससूत्रों की, कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की तथा जैमिनि ने मीमांसासूत्रों की रचना की है। इसी तरह महर्षि कपिल ने सांख्यसूत्रों की और पतञ्जलि ने योगसूत्रों की रचना की है। इसी तरह अनेक अन्य सूत्रों के भण्डार से दर्शन का क्षेत्र भरा पड़ा है। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि ये सूत्र हैं क्या? सूत्र संक्षेप में सारकथन हैं। इस प्रकार गम्भीर से गम्भीर विषयसार को संक्षिप्त, पर सारगर्भित रूप में उपस्थित करने वाला 'सूत्र' कहलाता है।

y?kfu lf¥prkFkkfu LoYik{kjinkfu p A
lor% lkjHkrkfu l=k.;kgqeuhf"k.k% AA

¼Hkkerh 1-1-1½

व्याख्याकाल– भारतीय दर्शन का यह युग स्वर्णयुग कहलाता है। इस युग में दर्शनग्रन्थों पर अनेक भाष्य, व्याख्या, वार्तिक और टीकाएँ लिखी गई है। सूत्र संक्षिप्त होने के कारण दुर्बोध होते हैं। अतः इनकी व्याख्या कर इन्हें सुबोध बनाना भाष्य का काम है।

l=kFkks o.k;rs in% l=kuqlkfjfHk% A
Loinkfu p o.k;Urs Hkk";ks Hkk";fonks fon% AA

सूत्र समासतः संकलन हैं। भाष्य व्यासतः उनका विवरण प्रस्तुत करता है। सूत्र–काल 350 ई. पूर्व से 150 ई. पूर्व तक ठहरता है। सूत्रकाल में न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा और वेदान्तदर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। कई शताब्दियों की गवेषणा का परिनिष्ठित परिणाम यह सूत्रकाल है। इसके बाद इन सूत्रों की वृत्ति, भाष्य या विभिन्न टीकायें लिखी गईं। इन वृत्ति, भाष्य या टीकाकारों की महत्ता या विशिष्टता सूत्रकारों की अपेक्षा किसी भी स्थिति में कम नहीं है। अवान्तर काल में प्रायः प्रत्येक सूत्रग्रन्थों पर अलग–अलग व्याख्या या भाष्य लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ–कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ने मीमांसासूत्र पर मीमांसाभाष्य, शङ्कर तथा रामानुजप्रभृति ने वेदान्तसूत्र पर वेदान्तभाष्य, वात्स्यायन ने न्यायसूत्र पर न्यायभाष्य लिखा है। प्रशस्तपाद ने वैशेषिकसूत्र पर वैशेषिक–भाष्य लिखा है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र पर सांख्यप्रवचनभाष्य लिखा है। इसी तरह व्यास ने योगसूत्र पर योगभाष्य लिखा है। इन भाष्यों की अपनी एक अलग विशेषता है। कुछ भाष्य तो सूत्रानुसारी है, पर कुछ की सूत्रों से अलग हटकर भी सत्ता है, विशेष व्याख्या है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं–वैशेषिकसूत्र पर कणाद के भाष्य। इनके अतिरिक्त वादरायण के वेदान्तसूत्रों पर अनेक प्रामाणिक भाष्य है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बर्काचार्य, कुमारिलभट्ट, वाचस्पतिमित्र, उदयन, जयन्तभट्ट आदि प्रमुख दार्शनिक विचारक इस युग की ही देन है। 250 ई. से लेकर 1450 ई. तक व्याख्याकाल माना जाता है।

आधुनिक काल–भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा का पुनरुत्वान उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इस युग के चिन्तकों में राजा राममोहन राय और उनका ब्रह्मसमाज, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती और उनका आर्यसमाज, डॉ. भगवान दास, श्रीरामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि प्रमुख विचारक हैं। इनका प्रमुख दृष्टिकोण अध्यात्मवादी ही है।

वैसे तो धर्म, साधना और अध्यात्म में ही इनका जीवनप्रवाह है। लेकिन कला, साहित्य, दर्शन, राजनीति और आधुनिक विज्ञान में भी ये अद्भुत और अद्वितीय हैं। दर्शन के क्षेत्र में इन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वे जीवन के आत्यन्तिक गहराइयों और अनुभूतियों से उद्भूत हुए हैं। इनके अतिरिक्त इस युग के जितने भी दार्शनिक हैं, उनके चिन्तन का दृष्टिकोण अध्यात्मवाद, यथार्थवाद, भौतिकवाद, समाजवाद आदि शाखाओं से विकसित एवं प्राणवन्त प्रतीत होते हैं। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा आस्तिक–नास्तिक, वैदिक–अवैदिक, परा–अपरा आदि अनेक नामों से प्रवाहित है। चिन्तन की ये विचारधारायें परस्पर एक–दूसरे से भिन्न हैं। प्रक्रिया खण्डन–मण्डनात्मक है। आत्मचिन्तन सबका मूल आधार है। सारी चिन्तन– धारायें एक–दूसरे को काटती होती हुई भी भारतीय दर्शन के अपरिहार्य अंग हैं। यह भारतीय दर्शन की विशालता या विशिष्टता का प्रतीक है। समस्त चिन्तन का केन्द्र मात्र आत्मचिन्तन है और आत्मा का सागर किसी भी व्यक्ति के लिए सर्वाधिक निकटवर्ती है। इस सागर का द्वार कभी भी किसी के लिए बन्द नहीं होते। क्योंकि व्यक्तिरूपी बूँदें उस आत्मसागर के द्वार पर अपने ही हाथों अपने में बन्द होती हैं।

मत और सम्प्रदाय की उसकी स्वनिर्मित दीवारें और सीमायें तो उसकी अपनी ही हैं। सागर तो वह होना चाहती है। पर अपने बूँद होने को तोड़ना नहीं चाहती है। यही उसकी दुविधा है, यही भारतीय दर्शन की दुविधा है। यह असम्भव है कि बूँद भी रहे और वह सागर भी हो जाये। व्यक्ति 'व्यक्ति' बना रहे और ब्रह्म को मान ले और ब्रह्म बन जाये। मत और सम्प्रदाय की बूँदें मिटतीं हैं तो भारतीय दर्शन की समता का सागर स्वतः उपलब्ध हो जाता है। भारतीय दर्शन की आत्मा का अमृत तो हमारे निकट ही है, व्यर्थ ही हम मत और सम्प्रदाय की चादर ओढ़कर चुपचाप बैठे हैं। इस बूँद को मिटाना पड़ेगा और हमें अपने ही हाथों से ओढ़े हुए मत–मतान्तर की चादर को हटाना पड़ेगा और इसकी सीमायें छोड़नी ही पड़ेंगी। तभी हम भारतीय दर्शन की समरूपता के दर्शन कर सकेंगे। यही हमारे दर्शन की मौलिक समानता है।

अतित की स्त्रियाँ और विज्ञान

ओमप्रकाश प्रसाद

शिकार के चरण से पूर्व समाज में कोई उत्पादन नहीं होता था, बीजों, फलों और छोटे जानवरों को यहाँ–वहाँ से अपने अधिकार में ले लिया जाता था। इस स्थिति में श्रम का निवारण नहीं था। बच्चों के लालन–पालन में स्त्रियाँ लगी रहती थी। माता–पिता तथा विशेषकर माता और उसके बच्चों के बीच संबंधों से प्रगति का मार्ग तैयार होने लगा। माँ के बच्चों के बीच प्राकृतिक लगाव से समुदाय में रिश्ते की भावना आई। एक–दूसरे के प्रति अपने अपने कर्तव्यों के बारे में चेतना उपजी और परस्पर स्नेह का उदय हुआ। इस तरह स्त्री से कबीला उत्पन्न हुआ। काफी समय तक सामाजिक संगठन का केंद्र बिंदु माता रही। एक ऐसा समय आया जब भाले का अविष्कार हुआ। इस औजार से शिकार करने का काम पुरुषों का हो गया। स्त्रियाँ खाद्य सामग्री एकत्र करने में लगी रही। ऐसे में स्त्री प्रधान माहौल बना रहा। शिकार के दौरान पुरुषों ने पालतू जानवरों को पहचान लिया। पशुपालन से पुरुष समाज का संबंध स्थापित हुआ। दूसरी और खाद सामग्री इकट्ठा करने की क्रिया से बस्ती के आसपास की जमीन में बीज बोने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ और स्त्री खेती का काम करने लगीं।

ई.पू. 3000 की दौरान भारत में आर्यों का नाम किसी ने नहीं सुना था। इसी समय मिस्र और मेसोपोटामिया की सहयोग से पंजाब और सिंधु में अनोखी सभ्यता पनपी थी जिसका श्रेय संभवतः स्त्रियों को था। सिंधु घाटी में संपत्ति की प्राप्ति पृथ्वी से ही हो रही थी। आवश्यकता से अधिक जो कृषि उत्पादन होता वही उसका भौतिक आधार था और कृषि की खोज की स्त्रियों ने की थी। इसलिए सिंधु सभ्यता में बात सकता मातृसत्तात्मक तत्वों के काफी अवशेष मिलते हैं। आज जिसे हम हिंदू धर्म कहते हैं उसके सांस्कृतिक ढाँचे में सिंधुकालीन धार्मिक तत्व प्रमुख है। स्त्री–प्रधान धर्म वेदोत्तर काल की शांतिपूर्ण परिस्थितियों का परिणाम नहीं था। सिंधु घाटी और बलूचिस्तान से जिस प्रकार की नारी मूर्तियाँ है मिली है वैसी बहुत सी मूर्तियाँ एलम, सीरिया, मेसापोटामिया, एशिया माइनर, फिलिस्तीन और साइप्रस और मिस्र आदि देशों से भी मिली है। सिंधु से लेकर नील नदी तक सारे क्षेत्र में यह मूर्तियाँ थीं। इन सभी देशों में मातृसत्तात्मक समाज की बात सोची जा सकती है। इन सभी सभ्यताओं की संपदा धरती से उपजती थी और कृषि रूपी इस संपदा की खोज स्त्रियों ने की थी। मातृदेवी को माता या माहामाता कहते थे जो शक्ति के रूप में विकसित हुई। माता के प्रतिनिधि ग्रामदेवता वास्तव में ग्रामदेवियाँ है, जिने उत्पादकता की जन्मदात्री माना जाता था। प्रारम्भ में इनकी उपासना जब निम्न करते तो ये ग्रामदेवियाँ और ब्राह्मणों ने इनकी उपासना करनी शुरू की तो इन्हें ग्रामदेवता के नाम से जाना जाने लगा। मातृदेवी के रूप में उपासना करने वाली जनजातियाँ बाद में चलकर आर्यों के समाज का अंग नहीं बन सकीं। पशुओं द्वारा चलाए जानेवाले हल का उपयोग शुरू होने पर कृषि कार्य पुरुषों द्वारा किया जाने लगा। उत्पादन में स्त्रियों की भूमिका जैसे–जैसे और जहाँ–जहाँ कम होती गई वैसे–वैसे पुरुष–प्रधान समाज का उदय होता गया। शिकारी अर्थव्यवस्था के दौरान स्त्री और पुरुष के बीच श्रम का विभाजन हुआ। जब तक समाज में स्त्रियों की प्रधानता उत्पादन के प्रथम चरण में रही, उस समय देवियों की प्रधानता थी। बाद में जब समाज पशुपालनावस्था में पहुँचा तो देवियों का महत्व कम और देवताओं का महत्व बढ़ गया। पशुपालन के माध्यम से आर्थिक सत्ता पुरुषों के हाथ में आ गई। वैदिक धर्म और उपासना में देवियों के स्थान की चर्चा है। वहाँ आमतौर पर देवताओं के स्थान पर देवियाँ हैं। ऋग्वेद में सीता का आह्वान किया गया है। सीता का शाब्दिक अर्थ है, खेत में हल चलने से बननेवाली झिरी अथवा हराई। देवियों का स्तर देवताओं के स्तर से नीचे रखा जाना वैदिक आर्यों की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के अनुरूप है, किन्तु कृषि में वृद्धि के लिए देवी की कल्पना की गई, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध स्त्रियों से रहा। गोभिल गृहसूत्र में सीता, आरद और अनद्य जैसी देवियों की चर्चा पैदावार में वृद्धि के लिए की गई है। बैलों द्वारा हल चलाने अथवा जुताई करने की विधि का जब आविष्कार हुआ तो स्त्रियों द्वारा यह काम छोड़ देना पड़ा। डी.डी. कोसाम्बी का मत है कि देश के जिन भागों में हल का उपयोग सबसे अन्त में प्रारम्भ हुआ वहाँ मातृसत्तात्मक संस्थाओं का अस्तित्व बना रहा। ऐसी संस्थाओं का जहाँ अन्त हुआ वहाँ बहुपत्नी विवाह, बाल विवाह और सतीप्रथा जिस मात्रा में पुरुष समाज को फायदा हुआ उससे ज्यादा दुर्दशा स्त्रियों को का उदय हुआ। बाल विवाह, सतीप्रथा, विधवा प्रथा और बहुपत्नी विवाह से भुगतनी पड़ी। आज भारत में जिन स्त्रियों को हम देखते हैं उनमें शिक्षित–अशिक्षित, ग्रामीण–कस्बाई गरीब और गरीबी रेखा से नीचे, विवाहिता–अविवाहिता, बच्ची–बूढ़ी और और शहरी तथा महानगरीय, धनी, अत्यधिक धनाढ्य, मध्यम, निम्न मध्यम, युवती, तलाकशुदा और विधवा, नौकरी करनेवाली और शुद्ध गृहिणी, एक पति की कई पत्नियाँ, कई पत्नियों के एक पति, दादी, माँ, मौसी, चाची, बहन, बेटी आदि प्रकार हैं। दक्षिण, पूरब, पश्चिम और उत्तर भारत में रहनेवाली स्त्रियों में भी भिन्नता पाते हैं। मजदूरी पर काम करनेवाली और कारोबार करनेवाली स्त्रियाँ भी हैं। देश में करीब आधी आबादी इन्हीं की है। स्त्रियों से सम्बद्ध केन्द्रीय कानून इन विभिन्नताओं को करीब–करीब नकारते हुए एक निश्चित सीमाबद्ध ढाँचे में बना हुआ है। प्राचीनकाल से सम्बद्ध स्त्रियों पर प्रकाशित पुस्तकों में से कोई भी एक ऐसा नहीं दिखाई देता जिसको पढ़ने से इस विषय से सम्बद्ध पहलुओं को ठीक से समझा जा सके।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

गाथा परशुराम और उनके तेज की

आर्य–संस्कृति का उषःकाल ही था, जब भृगुवंशी महर्षि जमदग्नि–पत्नी रेणुका के गर्भ से परशुराम का जन्म हुआ। यह वह समय था जब सरस्वती और हषद्वती नदियों के बीच फैले आर्यावर्त में यदु और पुरु, भरत और तृत्सु, तर्वसु और अनु, द्रह्यू और जन्हू तथा भृगु जैसी आर्य जातियाँ निवसित थीं और जहाँ वसिष्ठ, जमदग्नि, अंगिरा, गौतम और कण्व आदि महापुरुषों के आश्रमों से गुंजरित दिव्य ऋचाएँ आर्यधर्म का संस्कार संस्थापन कर रही थीं। लेकिन दूसरी ओर सम्पूर्ण आर्यावर्त, नर्मदा से मथुरा तक शासन कर रहे हैहयराज सहस्रार्जुन के लोमहर्षक अत्याचारों से त्रस्त था। ऐसे में युवावस्था में प्रवेश कर रहे परशुराम ने आर्य–संस्कृति को ध्वस्त करने वाले हैहयराज की प्रचंडता को चुनौती दी और अपनी आर्यनिष्ठा, तेजस्विता, संगठन क्षमता, साहस और अपरिमित शौर्य के बल पर विजयी हुए। संक्षेप में कहें तो यह उपन्यास एक युगपुरुष की ऐसी शौर्यगाथा है जो किसी भी युग में अन्याय और दमन के सक्रिय प्रतिरोध की प्रेरणा देती रहेगी।

गुजरती भाषा के प्रसिद्ध लेखक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 1921 में पौराणिक विषयों पर लिखना आरंभ किया था। उन्होंने पहले चार नाटकों का एक (इसको महाकाव्य भाग्य से ही कहा जा सकता है) महानाटक लिखने का संकल्प किया था, उसी के अनुसार 1922 में 'पुरन्दर पराजय', 1923 में 'अविभक्त आत्मा', 1924 में 'तर्पण' और 1929 में 'पुत्र समोवडी' लिखा। 1932 में इस महानाटक के उपोद्घात के रूप में 'विश्वरथ' नाम से एक उपन्यास लिखा। इसके पश्चात् 'शम्बर कन्या', 'देवे दीधेली' और 'विश्वामित्र ऋषि'–ये तीन नाटक लिखे। ये चारों लोपामुद्रा के चारों भागों में प्रकट हुए हैं।

फिर उन्हें ज्ञात हुआ कि नाटक गुजराती पाठकों के लिए सुगम नहीं हैं, रुचिकर भी नहीं हैं। क्योंकि उनके लिखे 'देवे दीघेली' जैसे नाटकों ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया इसलिए उन्होंने इस महानाटक का उत्तरार्ध उपन्यास के रूप में लिखने का विचार किया। इसको मैंने दो भागों में बाँटा–'लोमहर्षिणी' और 'भगवान् परशुराम'। यह महानाटक चार स्वाभाविक स्कन्धों में विभक्त हुआ है। इसके चतुर्थ स्कंध में भगवान परशुराम के जीवन की गाथाएँ उल्लेखित है। यह कथाएँ उन्होंने पुराणों से ली है। इसके उपसंहार रूप में 'तर्पण' लिखा गया है, जिसमें और्व ऋषि परशुराम के पास से जामदग्न्यास्त्र प्राप्त करते हैं। इसमें शुक्राचा से सगर राजा तक कथाओं का चार स्कन्धों में समावेश हुआ है।

उपन्यास के रूप में यह पुराण कथा एक अर्वाचीन

उपन्यासकार के वर्षों के प्रयत्नों का फल है। महाभारत, रामायण और भागवत के रचयिताओं ने पुष्कल काल्पनिक सामग्री प्रस्तुत कर दी है। अपनी नाट्य कृतियों के संबंध में उन्होंने कहा था कि मेरे सामने तो एक ही प्रश्न था – वैदिक और पौराणिक समय का दिग्दर्शन कराना। इस स्वनिर्धारित कर्तव्य के लिए सामग्री की खोज में मैंने यथासाध्य ऋग्वेद और पुराण की सहायता ली है। इन महानाटकों की रचना मेरी स्वतन्त्र कलाकृति है। मानव जीवन के मेरे आदर्श और सृजनशक्ति ने इसका निर्माण किया है। 1922 से 1945 तक 23 वर्ष में यह महानाटक पूर्ण हो गए हैं। प्रचंड मानवों के प्रचंड प्रसंगों के मेरे स्वप्न इनमें समाविष्ट हैं। वसिष्ठ–अरुन्धती के उद्गार, शम्बर कन्या और विश्वरथ का प्रेम, लोपामुद्रा का प्रेम, परशुराम की बालचेष्टा, विश्वामित्र का अभय संशोधन और परशुराम के कितने ही जीवन–प्रसंग मेरे इन नाटकों में सफल हुए हैं। अधिक चमत्कृत हुए हैं ऐसा मैं मानता हूँ। शुक्राचार्य से और्व तक अविच्छिन्न धारा इसमें बह रही है। इस प्रकार की गगनस्पर्शी मानवता आर्य संस्कृति का सहारा लिये बिना पूर्ण नहीं हो सकती। भगवान परशुराम पर लिखा यह पौराणिक उपन्यास आदिकाल से समकाल तक सनातनता की एक दिव्य व्याख्या करता सा महसूस होता है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com